



पुस्तक समीक्षा

‘भाषाविज्ञान और हिन्दी’ का समीक्षात्मक अनुशीलन

डॉ.आलोक कुमार सिंह

सहायक प्राध्यापक

हिन्दी विभाग

माँ मंशादेवी महाविद्यालय

चन्दौली, बनारस, उत्तरप्रदेश, भारत

भाषा का अर्थ

मनुष्यों द्वारा विचारों और मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए व्यवहार में लाई जाने वाली भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के शास्त्र को भाषाविज्ञान कहा जाता है। सामान्य भाषाविज्ञान के अन्तर्गत भाषा के उद्भव और विकास पर विचार किया जाता है। सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान भाषा अध्ययन और विश्लेषण के लिए सिद्धान्त प्रदान करता है। वह मूलतः इस प्रश्न पर विचार करता है कि भाषा क्या है और किन तत्वों से बनी हुई है। इसके चार क्षेत्र हैं ध्वनि विज्ञान, रूप विज्ञान, वाक्य विज्ञान और अर्थ विज्ञान। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भाषाविज्ञान सैद्धांतिकी से आगे बढ़कर विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त हो रहा है और भाषा-उपभोक्ता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भाषाविज्ञान विकसित हुआ है। भाषाविज्ञान के अन्तर्गत भाषा शिक्षण, शैली विज्ञान, कोश विज्ञान, भाषा नियोजन, वाक् चिकित्सा विज्ञान, समाज भाषाविज्ञान, मनोभाषाविज्ञान, अनुवाद विज्ञान आदि अनुप्रयोग के क्षेत्र शामिल हैं। हिन्दी में भाषाविज्ञान की संक्रियात्मक भूमिका पर केंद्रित गंभीर पुस्तकों का लगभग अभाव-सा है। प्रो. सरयू प्रसाद

अग्रवाल की पुस्तक ‘भाषाविज्ञान और हिन्दी’ (1957) इस अभाव की पूर्ति का सार्थक प्रयास प्रतीत होती है।

प्रो. सरयू प्रसाद अग्रवाल जी के बहुआयामी लेखन में सन् 1945 से अब तक 8 ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। इस कालावधि में उन्होंने साहित्य और भाषाविज्ञान के साथ-साथ आलोचना का भी कार्य प्रतिपादित किया। इनमें उनके अपने विचार भी समाविष्ट हैं। मौलिक लेखन की दृष्टि से उन्होंने साहित्य की रचना की, किन्तु उसका अधिक प्रचार-प्रसार नहीं हो सका। एक भाषाविद् के रूप में उनकी सर्वत्र प्रतिष्ठा है। साहित्यकार के रूप में अपने को स्थापित करने के पीछे उनके लेखन की कई वर्षों की तप-साधना रही है। साहित्य-सृजन के माध्यम से उन्होंने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों और उनके प्रति अपने नजरिये को प्रकट किया है। अग्रवाल जी कहते हैं कि, “लेखन चलते-फिरते भी चलता है, जो विचार पंक्ति जब ध्यान में आये, उसे उसी समय लिख लेना चाहिए। विचार, तरंग बार-बार नहीं आते। समय तो अनुचर है, भाषा भी हाथ जोड़कर खड़ी है। सख्ती अपने आप पर होनी चाहिए।” भाषाविज्ञान और हिन्दी का प्रकाशन भारतीय

विद्या भवन, इलाहाबाद से सन् 1957 में हुआ। “पुस्तक का प्रत्येक खण्ड एवं सम्बद्ध आलेख बड़ी ही तन्मयता के साथ लिखे गए हैं। इस तन्मयता का ही परिणाम है कि हिन्दी और भाषाविज्ञान के पाठों के विश्लेषण में यह पुस्तक सफल हो सकी है और इस तथ्य को उजागर कर सकी है कि कोई भी भाषा (इस अध्ययन में हिन्दी भाषा) अलग-अलग सामाजिक परिस्थितियों और प्रयोजनों में अलग-अलग ढंग से बरती ही नहीं जाती, बल्कि भिन्न-भिन्न प्रयोजनों में प्रयुक्त होते समय अपनी अकूत अभिव्यंजनात्मक क्षमता को भी अलग-अलग संरचनाओं में ढाल कर अलग-अलग तरीकों से सिद्ध करती है।”

भाषा और समाज का अंतःसम्बन्ध

अध्याय के प्रारम्भ में अग्रवाल जी ने भाषा और समाज के अन्तःसम्बन्ध को स्पष्ट किया है। इस अध्याय को नौ उपभागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में भाषा के प्रारम्भिक रूप को बताया गया है। भाषा और समाज को एक दूसरे का पूरक बताया गया है। “मानव-जीवन में भाषा का अत्यधिक महत्व है। मनुष्य के विकास के साथ-साथ भाषा का महत्व भी बढ़ता जाता है। भाषा हमारे जीवन में इतनी अधिक घुल-मिल गई है कि हम इसको अपने जीवन से भिन्न एक पृथक सत्ता के रूप में बोध ही नहीं कर पाते।” मनुष्य एक विचारशील प्राणी है और उसके विचार-विनिमय का माध्यम भाषा ही है। जाति, देश और काल के अनुसार भाषा का स्वरूप बदलता रहता है। भाषा के प्रारम्भिक रूप को स्पष्ट करते हुए अग्रवाल जी ने लिखा है कि, “भाषा का अर्जन समाज के बीच से ही होता है उसे जन्म से लेकर संसार में कोई उत्पन्न नहीं करता।” मिस्र देश के राजा सैमिटिकस ने दो नवजात शिशुओं को मनुष्य-सम्पर्क से अलग

रखा और कालान्तर में वे केवल फिजी भाषा का शब्द ‘बेकोज (रोटी)’ का ही उच्चारण कर सके जिसे उन्होंने रोटी देने वाले नौकर के मुख से सुन लिया था। भारत में सम्राट अकबर ने भी इसी प्रकार का प्रयोग किया, परिणामस्वरूप बच्चे गूँगे ही निकले।’ मनुष्य का जीवन अनेक पशु-पक्षियों के बीच में व्यतीत होता है और उसने इनके बीच रहकर उनकी कुछ आवाजों का अनुकरण कर लिया है। जैसे-म्याऊँ, भौं-भौं, कुक्कू, कुहू, काक, तीतर, चटक (चिड़िया), कुक्कुट आदि। भाषा में अनुकरणात्मक शब्द भी मिलते हैं। निर्जीव वस्तुओं की परस्पर टकराहट से ये शब्द बनते हैं। जैसे-खट-खट, कल-कल, रिमझिम, फड़फड़ आदि। “भाषा समाज-सापेक्ष होती है। उसका विकास भावों के आदान-प्रदान के लिए ही हुआ। भाषा के विकास में यह भावना इतनी प्रबल हो गई कि भाषा के अध्ययन की एक शाखा ही समाज भाषाविज्ञान के नाम से अभिहित की गई है।” भाषा पर समाज की छाप होती है। कोई एक व्यक्ति भाषा को उत्पन्न नहीं करता। यह अवश्य है कि भाषा को एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से सीखता है। कोई व्यक्ति पैतृक सम्पत्ति के रूप में उसका उत्तराधिकारी नहीं होता वरन उसे प्राप्त करने के लिए उसको प्रयत्नशील होना पड़ता है।

भाषा की परिवर्तनशीलता

भाषा के विकास को स्पष्ट करते हुए अग्रवाल जी ने लिखा है कि, “परिवर्तनशीलता तथा ग्रहणशीलता प्रचलित भाषा के प्रधान गुण होते हैं। भाषा तभी तक जीवित रह सकती है जब तक उसमें यह गुण विद्यमान हैं अन्यथा वह मृतप्राय हो जाती है।” यदि भाषा का समाज नष्ट हो जाए अथवा वह समाज कोई दूसरी भाषा का प्रयोग करने लगे तो वह भाषा अव्यवहृत होते ही

समाप्त हो जायेगी। यदि किसी भाषा का व्यवहार करने वाले कोई दो व्यक्ति भी जीवित रहेंगे तो भाषा जीवित रहेगी। औद्योगिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि कारणों से जातियों का पारस्परिक सम्पर्क एक दूसरे की भाषा को प्रभावित करता है। अपनी प्राचीनता और सांस्कृतिक कारणों से भी कोई भाषा सर्व प्रचलित हो जाती है। संस्कृत भाषा ने भारत के पड़ोसी देशों-तिब्बत, बर्मा, लंका आदि तथा सभी भारतीय भाषाओं को यथेष्ट रूप में प्रभावित किया है। द्राविड़ भाषाओं पर संस्कृत का काफी प्रभाव मिलता है। भाषा के भेद को स्पष्ट करते हुए अग्रवाल जी ने लिखा है कि, “भाषा को पारिभाषिक शब्दावली में हम बोली, विभाषा, भाषा, राष्ट्रभाषा आदि नाम देते हैं। सर्वसाधारण में प्रचलित और साहित्यिक भाषा में अन्तर होता है।” समाज में विभिन्न वर्गों के मनुष्य होते हैं- ग्रामीण, नागरिक, शिक्षित, अशिक्षित तथा अनेक व्यवसायों से सम्बन्धित। किसान, राज (मिस्त्री), मल्लाह, जुलाहा, कुम्हार, बढई, लोहार, नाई, तेली, सुनार, गड़रिया, चमार, पटहार आदि विभिन्न व्यवसायों के मनुष्य-समुदाय होते हैं। इनकी अपनी विशिष्ट शब्दावली होती है और इसे उस समुदाय के लोग ही भली प्रकार समझ पाते हैं। भाषा जब किसी सीमित क्षेत्र में केवल घरेलू रूप में प्रचलित रहती है तो वह ‘बोली’ कहलाती है। उसमें कोई विशिष्ट साहित्य नहीं होता। इस बोली का क्षेत्र जब कुछ विस्तृत हो जाता है तो वह ‘विभाषा’ अथवा ‘उपभाषा’ के नाम से अभिहित होती है शिक्षा, साहित्य और राजकीय कार्यों में जब किसी बोली का प्रयोग होने लगता है तब हम उसे प्रादेशिक भाषा, आदर्श भाषा अथवा केवल ‘भाषा’ की संज्ञा दे सकते हैं। इसका क्षेत्र कुछ व्यापक अधिकांशतः विभाषाओं से विस्तृत

होता है। विचार-विनिमय के रूप में जब यह भाषा किसी राष्ट्र के समस्त भू-भाग पर छा जाती है तब राष्ट्रभाषा और जब यह विश्व के व्यापक क्षेत्रों को सम्बद्ध करती है तब हम उसे सामान्यतः विश्वभाषा कह देते हैं।’

भाषा और सामाजिक शास्त्र को स्पष्ट करते हुए डॉ. अग्रवाल जी ने बताया है कि “भाषा रूपों को पाकर हम समाज के रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा तथा तद्युगीन विचारों का बहुत कुछ ठीक अनुमान लगा लेते हैं। ‘असुर’ शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में ‘तेजस्वी आत्माओं’ के लिए हुआ है, फिर बाद के साहित्य में यही शब्द ‘कुत्सित-भावना’ वाले व्यक्तियों के लिए होने लगा। निश्चय ही उस युग की विचारधाराओं में परिवर्तन हुआ होगा। भाषा और शरीर तथा भौतिक विज्ञान को जोड़ते हुए समझाया कि, ‘उच्चरित ध्वनियाँ श्रोता के कर्णेन्द्रिय द्वारा गृहीत होने के पूर्व वायु की लहरों द्वारा प्रवाहित होती हैं। इन लहरों का वैज्ञानिक अध्ययन भौतिक विज्ञान का विषय है। ये ध्वनियाँ हमारे कानों तक कैसे और किस रूप में पहुँचती हैं तथा उसकी गति आदि का ज्ञान भाषा विज्ञानी भौतिक-विज्ञान की सहायता से ही कर पाता है। ध्वनियों का इस प्रकार का एक अध्ययन भौतिक ध्वनि-विज्ञान भौतिक शास्त्र पर आधारित है।’ भाषा और साहित्य के सम्बन्ध को जोड़ते हुए डॉ. अग्रवाल जी ने लिखा है कि, “साहित्य हमारी रागात्मक प्रवृत्तियों का प्रकाशन करने के लिए भाषा का आधार ग्रहण करता है। युग-युग की संचित मनोवृत्तियाँ साहित्य में सुरक्षित है जिनकी अभिव्यक्ति उस युग की भाषा के माध्यम से हुई है। इस प्रकार यदि हम भाषा का ऐतिहासिक विकास देखना चाहें तो हमें प्रत्येक युग की इस साहित्य-सम्पत्ति को ही आधार

बनाना पड़ेगा। बिना साहित्यिक सामग्री के भाषा का अध्ययन प्रौढ़ नहीं हो पाता। भाषा और व्याकरण को आपस में जोड़ते हुए डॉ० अग्रवाल जी ने लिखा है कि, “व्याकरण भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को व्यावहारिक रूप देता है जैसे ध्वनियाँ अनन्त हैं, एक ही ध्वनि को हम कई रूपों में बोल जाते हैं इसलिए वैयाकरण का ध्वनि-विश्लेषण केवल उस सीमा तक चलता है, जहाँ तक वह विश्लेषण उस भाषा के लिए महत्वपूर्ण है।” भाषा और मनोविज्ञान को विश्लेषित करते हुए अग्रवाल जी ने विवेचित किया कि सोचने-विचारने की विविधताओं का विश्लेषण करना मनोविज्ञान का वर्ण्य विषय है। इन्हीं विचारों की अधिकता के परिणामस्वरूप ही मानव के कार्यकलापों में अभिवृद्धि हुई है। ‘भाषा के दैनिक व्यवहार में उच्चारण तथा गठन सम्बन्धी जो आदत मनुष्य में दिखाई पड़ती है निश्चय ही वह एक प्रकार से ही सोचते रहने का परिणाम कहा जा सकता है। इस प्रकार भाषा या भाषा-रूपों के परिवर्तन के मूल कारणों का ज्ञान हम मनोविज्ञान की सहायता से प्राप्त कर सकते हैं। भाषा और भूगोल-शास्त्र के सम्बन्ध को व्याख्यायित करते हुए बताया कि आधुनिक युग में भाषा विज्ञान की एक शाखा भौगोलिक भाषा-विज्ञान की है जिसमें हम भाषा की स्थानीय विशेषताओं का अध्ययन करते हैं और मानचित्रों द्वारा उसे स्पष्ट करते हैं।

भाषा के तत्त्व और विकास

दूसरे अध्याय में भाषा के तत्व और उनके विकास के बारे में अग्रवाल जी ने विस्तारपूर्वक चर्चा की है। अग्रवाल जी ने ध्वनि की लघुत्तम सार्थक इकाई को ध्वनिग्राम माना है। प्रत्येक भाषा में ध्वनिग्रामों की संख्या निश्चित होती है। ध्वनिग्रामों के रूपान्तर को उन्होंने ‘एलोफोन’

नाम दिया है जैसे हिन्दी ईख, इस और गईया-इन तीन शब्दों में ‘इ’ ध्वनियों के तीन रूप मिलते हैं। क्रम से दीर्घ, ह्रस्व और विलम्बित ‘इ’। उन्होंने ध्वनि-अवयव, मूलस्वर, व्यंजन आदि को विस्तृत रूप से समझाया है। ध्वनियों की कुछ सामान्य विशेषताएँ-लय (स्वर-भेद), मात्रा, स्वराघात एवं भाषा के ध्वनि-परिवर्तन की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। ध्वनि-नियमों ग्रिम नियम, तालव्यीकरण नियम की विशेष रूप से व्याख्या प्रस्तुत की है। पद-विकास पर विचार करते हुए अग्रवाल जी का कहना है कि पद में व्याकरणिक अर्थ प्रकट करने की क्षमता होती है। शब्द का व्याकरणिक विभाजन आठ रूपों में मिलता है-संज्ञा, सर्वनाम, विश्लेषण, क्रिया, क्रिया विशेषण, विस्मयादिबोधक, अव्यय, समुच्चयादिबोधक अवयव, परसर्ग। भाषा का गठन व्याकरणिक तत्त्वों पर आधारित होता है। संस्कृत में इसे प्रत्यय नाम दिया गया है। संज्ञा का प्रयोग लिंग, वचन, कारक (विभक्ति) के अनुसार तथा क्रिया का प्रयोग लिंग, वचन, पुरुष, काल, वाच्य, अर्थ के अनुसार होता है। लिंग को मुख्यतः तीन भागों में बाँटा गया है : पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग। भाषा में वचन का प्रयोग काफी व्यापक है। किन्तु इसका विकास भी नैसर्गिक रूप में नहीं पाया जाता। वचन मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं एकवचन, बहुवचन किन्तु कभी-कभी द्विवचन भी दृष्टव्य होता है। प्राचीनकाल में संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि में परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए भाषा में विभक्ति का प्रयोग होता है। भाषाओं में विभक्ति के रूप भिन्न प्रकार के मिलते हैं। आधुनिक आर्य भाषा में विभक्ति आठ कारकों के रूप में मिलती है। वाक्य में क्रिया का प्रधान स्थान होता है। क्रिया के समुचित प्रयोग एवं उसके द्वारा सूक्ष्मतम भावों का बोध कराने के



लिए कुछ व्याकरणिक धाराओं को क्रिया से सम्बन्धित किया गया है। क्रिया का प्रयोग काल, वाचक, अर्थ, पुरुष, वचन, लिंग के अनुसार किया जाता है। सहायक शब्दों के सदृश ही अलग-अलग विभक्तियों में कारक चिन्हों अथवा परसर्गों का विकास आधुनिक भाषाओं की मुख्य विशेषता है। अर्थ विकास को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'प्रत्येक वस्तु अथवा प्राणी में एक संकेत निहित है। वही संकेत रूप, रंग, ध्वनि आदि के द्वारा मुखर होकर हमारे मस्तिष्क को उद्वेलित कर देता है और हम उनसे विशेष भाव या अर्थ लगा लेते हैं।' शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए अग्रवाल जी ने बताया कि 'शब्द और अर्थ का कभी सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता। अर्थ शब्द की स्वाभाविक विशेषता है। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे पर निर्भर करता है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वभाव सिद्ध है।' शब्द और स्फोट को आपस में जोड़ते हुए लिखा कि 'स्फोट, शब्द का और ध्वनि शब्द का गुण होता है। ध्वनि के द्वारा ही स्फोट प्रकट होता है। शब्द से अर्थ होता है इसलिए शब्द-तत्त्व स्फोट हुआ। स्फोट के कारण ध्वनि की उत्पत्ति होती है। अतः ध्वनि और स्फोट परस्पर एक-दूसरे पर आधारित है। अर्थ-विकास के कारणों की व्याख्या करते हुए अर्थ-परिवर्तन की तीन दिशाएँ या धाराएँ हैं-आर्थी विस्तार, अर्थ संकोच, अर्थ विपर्यय। पदों का संयोजन वाक्य के रूप में प्रकट होता है। वाक्य में शब्दों का क्रम निश्चित रहता है और वे अपने इस क्रम से परस्पर सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। वाक्य का विभाजन साधारण वाक्य, मिश्र वाक्य, संयुक्त वाक्य के रूप में बताया है। तीसरे अध्याय में भाषा-वर्गीकरण के सिद्धान्त तथा भारतीय भाषाओं की विवेचना की गई है। भाषा वर्गीकरण को स्पष्ट करते हुए

बताया कि 'ध्वनियों की और व्याकरणिक गठन की समानता से भाषा के पारिवारिक वर्गीकरण की पुष्टि हो जाती है। भाषाओं के वर्गीकरण का दूसरा आधार वाक्य के गठन से सम्बंधित है। भाषाओं की बनावट से दो प्रधान रूपों का पता चलता है-अयोगात्मक, योगात्मक।

अयोगात्मक में अर्थ तत्व और सम्बन्ध तत्व की सत्ता अलग-अलग होती है उनका योग एक नहीं होता और योगात्मक में दोनों तत्वों का योग रहता है। अग्रवाल जी ने भारतीय आर्यभाषा समूह के तीन भाग बताये हैं-प्राचीन, मध्य और आधुनिक। प्राचीन भाग की दो भाषाएँ-वैदिक, लौकिक संस्कृत, मध्य भाग की भाषा प्राकृत (प्राकृत-पालि, शिलालेखी प्राकृत, मध्य प्राकृत (महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची आदि) उत्तर प्राकृत अपभ्रंश) बताई है।

भाषा का वर्गीकरण

आधुनिक भारतीय आर्य भाषा का वर्गीकरण निम्न प्रकार से बताया-

बहिरंग शाखा-

पश्चिमोत्तरी-लहंदा सिन्धी

पूर्वी-बिहारी, बंगला, आसामी, उड़िया

दक्षिण-मराठी

अन्तरंग शाखा-पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, भीली, खानदेशी, राजस्थानी तथा पहाड़ी (पूर्वी, मध्य, पश्चिमी)

मध्यवर्ती शाखा-पूर्वी हिन्दी 'भारतवर्ष की आर्योत्तर भाषाओं में द्राविड़ तथा आस्ट्री (मुण्डा) परिवार की भाषाएँ मुख्य हैं।' द्राविड़ भाषाओं को चार समूहों में विभाजित किया गया है-द्राविड़ समूह, आन्ध्र समूह, मध्यवर्ती समूह, पश्चिमोत्तरी समूह। द्राविड़ समूह के अन्तर्गत तमिल, मलयालम, कन्नड़, तुलु, कोडगु, तोडा, कोटा आदि भाषाओं की गणना की जाती है। द्राविड़ परिवार



की ब्राहुई भाषा में लिंग भेद नहीं होता। एकवचन और बहुवचन का प्रयोग होता है। निर्जीव तथा अचेतन पदार्थ नपुंसकलिंग में होते हैं संज्ञा आदि विभक्तियों के रूप परसर्ग अथवा कारक चिन्हों के योग से बनते हैं। संज्ञा के सदृश विशेषणों का रूप विकास नहीं होता। गिनतियाँ आर्य भाषाओं के सदृश दशमलव रूप में प्रयुक्त होती हैं। वाक्य एक शब्द का भी होता है। चौथे अध्याय में अग्रवाल जी ने हिन्दी तथा उसकी उपभाषाओं की चर्चा की है। हिन्दी के आधुनिक काल का प्रारम्भ 1857 ई. के बाद से प्रारम्भ होता है। हिन्दी, आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का प्रतिनिधित्व करती है यह भारत की राष्ट्रभाषा है तथा उद्भव और विकास की दृष्टि से संस्कृत की सच्ची उत्तराधिकारिणी है। अग्रवाल जी ने शब्दों की तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं-तत्सम, तद्भव, देशज। हितलरपन बायकाट आदि अनार्य भाषाओं के शब्द बताये हैं।

हिन्दी के स्वरूप की चर्चा करते हुए हिन्दी क्षेत्र को दो भागों में विभाजित किया है-पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रजभाषा, बुन्देली और कन्नौजी प्रधान बोलियाँ हैं। पूर्वी हिन्दी में अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी बोलियाँ आती हैं। भारतीय तिथियों और देवनागरी पर विचार किया है। भारतवर्ष कि प्राचीन लिपियाँ ब्राह्मी तथा खरोष्ठी हैं। खरोष्ठी लिपि भारत के पश्चिमोत्तर, चीनी-तुर्किस्तान आदि स्थानों में प्रचलित मानी गई है। प्राचीन काल में ब्राह्मी भारत कि व्यापक लिपि थी। ब्राह्मी लिपि के बारे में विद्वानों का अनुमान था कि लगभग 350 ई. से ब्राह्मी लिपि दो स्वातंत्रों में प्रवाहित हुयी। एक को उत्तरी शैली तथा दूसरे को दक्षिणी शैली कहा। उत्तरी शैली के अन्तर्गत गुप्त लिपि, कुटिल लिपि, नागरी लिपि, शारदा

लिपि, बांग्ला लिपि तथा दक्षिणी शैली कि पश्चिमी, मध्यप्रदेशी, तेलुगू, कन्नड़ी, ग्रन्थ, कलिंग, तामिल, वट्टेकुल्लु मुख्य लिपियाँ हैं। देवनागरी लिपि इन सब में प्रमुख लिपि है। वह अपूर्ण लिपि है जिसमें भाषा की प्रत्येक ध्वनि को लिपिबद्ध करने कि क्षमता नहीं है। अग्रवाल जी का मानना है कि, जब भारत कि राष्ट्रलिपि देवनागरी मान ली गई है तो नागरी अंक जो उसका एक अविच्छिन्न अंग है उसे भी मान्यता मिलनी चाहिए। जब दोनों प्रकार के अंकों की शैली एक ही है केवल उनकी आकृतियों में ही थोड़ा अन्तर है तो राष्ट्रीय कार्य-व्यवहार के लिए नागरी अंकों को ही अपनाया जाना समीचीन है। अग्रवाल जी ने अपनी पुस्तक में भविष्य में राष्ट्रीय भावनाओं के उन्नत होने के साथ-साथ देवनागरी लिपि और भारतीय अंकों को पूर्ण प्रश्रय प्राप्त होने के सम्बन्ध में आशा जाहिर की है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1 भाषा विज्ञान और हिंदी, डॉ. सरयूप्रसाद अग्रवाल, भारतीय विद्या भवन, इलाहाबाद, 1957